26_sanjay_sharma:Layout 1 5/7/2014 3:04 PM Page 357

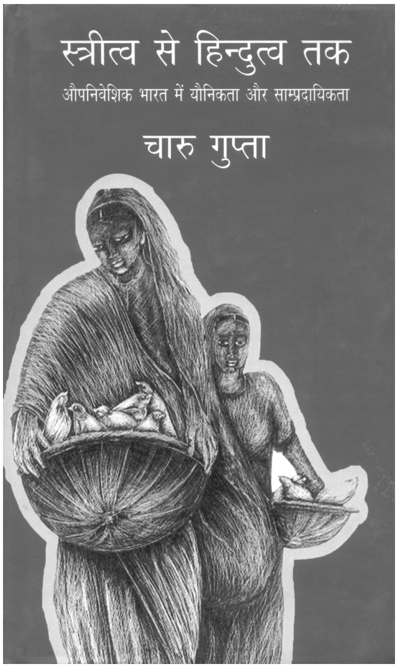

सेक्शुअलिटी और साम्प्रदायिकता

एक पुनर्रचना

संजय शर्मा

स्त्रीत्व से हिंदुत्व तक : औपनिवेशिक भारत में यौनिकता और साम्प्रदायिकता
चारु गुप्ता
राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2012
पृष्ठ 287, मूल्य 500 रु.

चारु गुप्ता की यह रचना औपनिवेशिक भारत के इतिहास-लेखन में न केवल एक महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप है, बल्कि कुछ अहम तरीक़ों से उसे पुन: रचने का प्रयास भी करती है। उन्नीसवीं सदी से उभरने वाले लोक-वृत्त में औपनिवेशिक राज्य की भूमिका, धार्मिक पहचान, समाज सुधार, भाषा संबंधी मुद्दों और स्त्री-पुरुष-परिवार जैसे मसलों पर कई विचारोत्तेजक अकादमीय अध्ययन हाल ही के वर्षों में सामने आये हैं। चारु गुप्ता का आग्रह है कि इन सभी में निहित यौनिकता, साम्प्रदायिकता तथा पितृसत्ता के बीचो-बीच हिंदू स्त्री को रख कर देखा जाना चाहिए। उनकी यह बात क़ाबिले-तारीफ़ है— ख़ास कर इसलिए भी इससे नारीवादी लेखन के सरोकारों के प्रति सचेत रह कर उसकी सीमाओं का विस्तार करने का मौक़ा मिलता है।

किताब में आकर्षक और प्रयोगधर्मी शीर्षकों वाले चौदह अध्याय हैं जिनमें चित्रों, कार्टूनों और विज्ञापनों का इस्तेमाल करके तर्कों को स्पष्ट और पुष्ट बनाया गया है। लेखिका की प्रमुख दलील है कि उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध से पनप रही हिंदू-प्रवृत्तियों और पितृसत्तात्मक निर्मितिओं के केंद्र में हिंदू महिला थी। औपनिवेशिक संदर्भ में हिंदू समुदाय, परिवार और राष्ट्र गढ़ने की जो मुहिम उत्तर भारत में छेड़ी गयी उसके लिए हिंदू नारी माध्यम भी थी, और लक्ष्य भी। इस दौरान रूढ़िवादी और सुधारवादी एजेण्डों द्वारा घर-परिवार एवं समाज में नारी की भूमिका पर नयी-पुरानी ज़िम्मेदारियाँ डाल कर स्त्रीत्व को पुनर्गठित करने की कोशिश की गयी।

26_sanjay_sharma:Layout 1 5/7/2014 3:04 PM Page 358

हिंदू पुरुष की बेचैन मानसिकता ने अपना प्रभुत्व क़ायम रखने के लिए अनेक अस्त्रों का सहारा लिया : काल्पनिक स्वर्णिम हिंदू अतीत का शीराज़ा तैयार किया गया, स्त्रियों की 'अदम्य' काम वासना का नियमन/वशीकरण करने का प्रयास हुआ और मुसलमान पुरुष की तथाकथित क्रूर कामुकता का हौआ खड़ा करना और इन सभी की अभिव्यक्ति और प्रचार का स्रोत बना आधुनिक छापाख़ाना। चारु की यह पुस्तक उन्नीसवीं सदी के दौरान हिंदी में छपने वाली सामग्री के संदर्भों से लबरेज़ है। यही वे स्रोत थे जिनके आधार पर उन्होंने 2001 में छपी अपनी अंग्रेज़ी कृति *सेक्शुअलिटी, ऑब्सिनिटी, कम्युनिटी, वुमॅन, मुसलिम्स ऐंड द हिंदू पब्लिक इन कोलोनियल इण्डिया* की रचना की थी। वे बेहिचक स्वीकार भी करती हैं कि उस किताब के सत्तर प्रतिशत से ज़्यादा स्रोत हिंदी के थे (पृ. 8)। ज़ाहिर है कि अंग्रेज़ी वाली पुस्तक में अनुवाद का सहारा लेना पड़ा था। हिंदी में उस 'मजबूरी' से उन्हें निजात मिल गयी। उल्लेखनीय है कि वर्तमान रचना महज़ अंग्रेज़ी का हिंदी रूपांतर नहीं है। मेरा तो प्रस्ताव है कि इसे मौलिकता की बहसों और तकाज़ों की कसौटियों से परे रख कर एक निष्ठावान स्त्रीमूलक इतिहास-लेखन के उम्दा उदाहरण के रूप में देखा जाना चाहिए।

चारु ने इस पुस्तक में उत्तर भारत का अध्ययन पेश किया है, ख़ासकर उस क्षेत्र का जो पहले संयुक्त प्रांत और अब उत्तर-प्रदेश के नाम से जाना जाता है। उन्होंने इस इलाक़े के सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक ताने-बाने के बदलते स्वरूप को उसके व्यावसायिक प्रेस के माध्यम से खँगाला है। एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशकों में भी देशी भाषा के अख़बारों की संख्या उत्तर में बंगाल से ज़्यादा थी। पुस्तकों की छपाई में बंगाल आगे था, मगर 1925-26 तक संयुक्त प्रांत आगे निकल गया। 1878-79 में देशी भाषाओं के समाचार पत्रों की संख्या 591 थी जबकि बंगाल में 26 छपते थे। 1925-26 में संयुक्त प्रांत में 2,777 किताबें छपीं और बंगाल में 2,543 (पृ. 48)। इस दौरान हिंदी के पाठकों को तरह-तरह की चीज़ें पढ़ने को मिल रही थीं। धार्मिक-पौराणिक कथाएँ, कविता, नीतिपरक साहित्य, क़िस्से-कहानियाँ, रोमांस और ख़ूब सारा तथाकथित 'अश्लील साहित्य'। पहले यह सब सामग्री उर्दू-फ़ारसी में ज़्यादा छपती थी, फिर यह प्रकाशन नागरी-हिंदी में बढ़ा, मगर ज़ुबान आम बोलचाल की ही रही। उसे कम दामों पर भी उपलब्ध कराया जाने लगा। लेखिका स्पष्ट करती हैं कि जो 'माल' ज़्यादा पढ़ा जाता था उस पर ऊँची नाक वाले नैतिकवादी नाक-भौं सिकोड़ते थे। 'स्वच्छ' साहित्य के सेवकों ने कामुक और यौन संबंधी लेखन को 'अश्लीलता' की व्यापक श्रेणी में डाल दिया। औपनिवेशिक राज्य के अधिकारियों ने भी इस पर पुलिसिया रुख़ अपनाया।

मगर इस 'गंदे' साहित्य की लोकप्रियता से इनकार करना मुश्किल था। इस 'नग्न' साहित्य को कई तरीक़ों से ढकने के प्रयास किये गये : यौन टीकाएँ कई बार संस्कृतनिष्ठ हिंदी में लिखी गयीं; अक्सर उनमें ग्रंथों और आयुर्विज्ञान का छौंक लगा कर उन्हें वैज्ञानिक 'लबादा' उढ़ाया गया (पृ. 60)। इस प्रकार इन किताबों के लेखकों ने नैतिकतावादी आलोचना में सेंध लगायी। उनकी कामयाबी तत्कालीन दौर में एक उभरती हुई अपसंस्कृति की ओर इशारा करती है। इसमें समलैंगिकता और यौन सुख भोगने की लालसा भी समाई हुई थी जिसने 'कामुक उपभोक्तावाद' को बढ़ावा दिया। उत्तेजना, गुदगुदी और मनोरंजन पैदा करने वाले इस अश्लील लेखन के ग्राहक अभिजात या 'साहित्यिक' लोग भी थे और यह हक़ीक़त हमें 'उच्च' और 'निम्न', 'अभिजात' और 'लोकप्रिय' या 'उत्कृष्ट' और 'बाज़ारू' जैसी सरलीकृत एवं खण्डित व्याख्याओं को प्रश्नांकित करने पर बाध्य करती है। लेकिन, चारु की रचना में पाठक समूह के बदलते स्वरूप और उनकी प्रतिक्रियाओं की जानकारी कम मिलती है।

सस्ते बाज़ारू यौन साहित्य के प्रचार-प्रसार और उसकी बढ़ती लोकप्रियता ने हिंदू पुरुषों की स्त्री-पुरुष यौनिकता के प्रति बेचैनी बढ़ा दी। काम कला में प्रवीण बनाने के नुस्खे बताने वाले साहित्य

26_sanjay_sharma:Layout 1 5/7/2014 3:04 PM Page 359

में पुरुषत्व, ब्रह्मचर्य, वीर्य-क्षय, हस्तमैथुन, स्वप्नदोष आदि को लेकर जो वैज्ञानिक और नैतिक हिदायतें दी जा रही थीं, उनसे पुरुषों में शर्मिंदगी, ग्लानि और अपराधबोध की बढ़ोतरी होती थी। इसका सबसे ज़्यादा फ़ायदा वैद्यों, नीम-हक़ीमों, डॉक्टरों और दवा बेचने वाली कम्पनियों ने उठाया। लेखिका के अनुसार अब जिन्न बोतल से बाहर आ चुका था (अध्याय-4)। अब हिंदू पुरुष से मुख़ातिब थी स्त्री यौनिकता और उसके आधुनिक होने से निकलने वाली चुनौतियाँ। हिंदू सुधारवादियों के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती यह थी कि किस प्रकार एक ऐसी स्त्री गढ़ी जाए जो पढ़ी-लिखी होने के साथ-साथ परम्पराओं का वहन तो करे ही, साथ ही दाम्पत्य और परिवार की ज़रूरतें पूरा करते हुए लज्जा का आभूषण पहन कर राष्ट्र-निर्माण में योगदान भी दे। मगर समस्या यह थी कि बदलता परिवेश स्त्रियों को नये अवसर उपलब्ध करवा रहा था। वे भी तो रोमांटिक साहित्य पढ़ कर और देवर से हँसी मज़ाक करके सीमाएँ लाँघ सकती थीं। अत: पुरुषों को उन्हें क़ाबू में रखना बेहद ज़रूरी लग रहा था। फलस्वरूप उनके मनोरंजन पर पहरे बिठाए जाने लगे। उन्हें गालियों वाले अश्लील गानों, नौटंकी-सिनेमा और होली जैसे त्यौहार से दूर रहने वाली हिदायतों की झड़ी लग गयी। इस शुद्धतावादी आग्रह में अनेक स्थापित और प्रतिष्ठित नाम शामिल थे : उन्नीसवीं सदी में भारतेंदु हरिश्चंद्र से लेकर बालकृष्ण भट्ट और बीसवीं सदी में मैथिलीशरण गुप्त, निराला, राजेंद्र प्रसाद, माखनलाल चर्तुवेदी, राम नरेश त्रिपाठी आदि। पाँचवें अध्याय में इन लेखकों के उद्धरणों के साथ लेखिका ने अपनी तजवीज़ पेश की है मगर वे सभी लेखकों को एक ही पलड़े में तौल देती हैं। दरअसल, बारीक और नफ़ीस फ़र्क़ों में न जाने का सपाटमार लक्षण पुस्तक में कई जगह मौजूद है और अक्सर ऐसा प्रतीत होता है कि गाँधी से लेकर घोर दक़ियानूसी हिंदू राष्ट्रवादी एक ही सुनियोजित मुहिम में लगे हुए थे। चूँकि किताब के ज़्यादातर अध्याय संक्षिप्त हैं इसलिए ऐसा विश्लेषण सही प्रतीत होने के बावजूद उलझन सी पैदा करता है। कई चरणों वाले लम्बे दौर में अनेक लोगों के विचारों की जटिलता एकल विमर्श के बोझ तले दब जाती है। अगर हिंदू दृष्टिकोण रखने वालों के बीच आपसी मतभेदों की झलक कुछ और मिलती तो बेहतर होता।

भारतेंदु हरिश्चंद्र से लेकर बालकृष्ण भट्ट और बीसवीं सदी में मैथिलीशरण गुप्त, निराला, राजेंद्र प्रसाद, माखनलाल चर्तुवेदी, राम नरेश त्रिपाठी आदि ... के उद्धरणों के साथ लेखिका ने अपनी तजवीज़ पेश की है मगर वे सभी लेखकों को एक ही पलड़े में तौल देती हैं। ... बारीक और नफ़ीस फ़र्क़ों में न जाने का सपाटमार लक्षण पुस्तक में कई जगह मौजूद है और अक्सर ऐसा प्रतीत होता है कि गाँधी से लेकर घोर दक़ियानूसी हिंदू राष्ट्रवादी एक ही सुनियोजित मुहिम में लगे हुए थे।

छठें और सातवें अध्यायों में घरेलू क्षेत्र में स्त्रियों की बदलती दशा पर प्रकाश डाला गया है। इनमें मुख्यत: हिंदू विवाह विधानों पर बहसों और स्त्री-शिक्षा के स्वरूप का विश्लेषण है। यहाँ उन्होंने पार्थ चटर्जी द्वारा 'घर' और 'बाहर' के क्षेत्रों में किये विभाजन से परे जाने की कोशिश की है (पृ. 100)। चटर्जी का विचार है कि औपनिवेशिक काल में पुरुष बाहरी जगत में अपने आपको कमज़ोर और पौरुषविहीन महसूस कर घरेलू क्षेत्र में अपनी सत्ता क़ायम करने की पुरज़ोर कोशिश कर रहे थे। इस प्रक्रिया में स्त्री, ख़ास कर हिंदू स्त्री आदर्श राष्ट्रीय नारी के वाहक के रूप में देखी जाने लगी थी। चारु गुप्ता ने इस विभाजन की सरलीकृत रेखा अस्वीकार करके यह तर्क दिया है कि हिंदू प्रचारकों ने घर और बाहर दोनों ही क्षेत्रों में महिलाओं पर अपना आधिपत्य स्थापित जमाने का प्रयास किया। हिंदू पुरुष ने हर चीज़ तय करने की कोशिश की : एक

26_sanjay_sharma:Layout 1 5/7/2014 3:04 PM Page 360

हिंदू कन्या का विवाह किस आयु में होना चाहिए, वह कितना, क्या और कैसे पढ़े और उसके फ़ैशन, कपड़े, गहने और खान-पान आदि कैसा हो। हिंदू स्त्रियों के लिए पुरुषों से अलग शिक्षा-प्रणाली की वकालत की गयी और उम्मीद के मुताबिक़ आधुनिक, अंग्रेज़ी और पश्चिमी शिक्षा को बुराइयों का स्रोत माना गया, विशेषकर स्त्री-शिक्षा के संदर्भ में (पृ. 139)। मगर जब लेखिका कहती हैं कि 'अपने देश ब्रिटेन के स्त्री-आंदोलनों से भयभीत अनेक अंग्रेज़ अधिकारी' (पृ. 137) हिंदू सुधारकों के इस रूढ़िवादी दृष्टिकोण के प्रति सहानुभूति रखते थे तो यह कारण पर्याप्त प्रमाण की कमी के कारण दमदार नहीं लगता। इसी तरह एक अन्य स्थान (पृ. 128) पर दावा किया गया है कि 'पुरुष के पलायन के कारण महिलाएँ काफ़ी समय के लिए पति से अलग रहती थीं, इसलिए महिला के जीवन का नियमन ज़रूरी था' (पृ. 128)। इसी तथ्य के सहारे स्त्री (पृ. 49) के जीवन में पुरुष पलायन के कारण परिवारों में उत्पन्न एक नयी तरह की रिक्तता की चर्चा की गयी जिसकी अभिव्यक्ति ख़ास कर पूर्वी उत्तर प्रदेश के बिदेसिया लोकगीतों में हुई। (बाहर नौकरी वग़ैरह करने के लिए जाने के लिए प्रयुक्त पलायन शब्द कुछ अटपटा है। पलायन का मतलब तो भाग जाना होता है। यहाँ प्रवसन या आव्रजन अधिक उपयुक्त लगते हैं।) जो भी हो, इस विश्लेषण से पाठकों को अनुपस्थित पुरुषों के अनुपात या प्रतिशत का अंदाज़ा नहीं मिलता। इसके अभाव में कोई ठोस निष्कर्ष निकालना या उसके प्रभाव का आकलन मुश्किल है। लेखिका ने स्त्रियों के अकेलेपन को सीधे तौर पर देवर-भाभी के बीच निकटता या विवाहेतर रिश्तों में राहत तलाशने की आकांक्षा से जोड़ दिया है जो ख़ासा सरलीकृत है। देवर-भाभी के संबंधों ऐंद्रिक आयाम आधुनिक परिस्थितियों की देन नहीं हैं। हिंदी-क्षेत्र के पूर्व-आधुनिक दो सौ वर्ष तक लिखी गयी रीतिकालीन कविता ऐसे प्रकरणों से भरी पड़ी है। बहरहाल, पति-पत्नी के बीच नये रिश्तों का मिज़ाज परखने का इस पुस्तक में सराहनीय प्रयास किया गया है, लेकिन बेहतर होता अगर इन्हें विक्टोरियाई नैतिकता से भी जोड़ कर देखा जाता। उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशकों में सहचरी पत्नी (कम्पैनियनेट वाइफ़) का उदीयमान विचार भारतीय पढ़े-लिखे मध्यवर्ग द्वारा आत्मसात् किये जाने की प्रक्रिया पर कुछ अनुसंधान हो चुका है जिससे पुस्तक में इस पर प्रस्तुत दिलचस्प प्रमाण का विश्लेषण और परिष्कृत हो सकता था।

स्त्रियों के अकेलेपन को सीधे तौर पर देवर-भाभी के बीच निकटता या विवाहेतर रिश्तों में राहत तलाशने की आकांक्षा से जोड़ दिया है जो ख़ासा सरलीकृत है। देवर-भाभी संबंधों के ऐंद्रिक आयाम आधुनिक परिस्थितियों की देन नहीं है। हिंदी-क्षेत्र के पूर्व-आधुनिक दो सौ वर्ष में लिखी गयी रीतिकालीन कविता ऐसे प्रकरणों से भरी पड़ी है। पति-पत्नी के बीच नये रिश्तों का मिज़ाज परखने का इस पुस्तक में सराहनीय प्रयास किया गया है, लेकिन बेहतर होता अगर इन्हें विक्टोरियाई नैतिकता से भी जोड़ कर देखा जाता।

पुस्तक में अंत की तरफ़ कई अध्यायों में हिंदू-पौरुष की बढ़ती चिंता और घबराहट का विस्तृत अध्ययन किया गया है। तर्क है कि हिंदू-मर्दानगी, मुसलमान पुरुष के बरअक्स रची गयी है और यही जद्दोज़हद हिंदू समुदाय और राष्ट्र-निर्माण के लिए भी दिखता है। मगर यहाँ भी राष्ट्र, समुदाय और हिंदू पुरुष के मान-सम्मान का बोझ हिंदू नारी के कंधों पर डाला गया। हिंदू प्रचारवादिओं ने मुसलमानों पर विपरीत लक्षण आरोपित करके अतीत की तस्वीर बनायी। मुसलमान मर्द को कामुक और कुकर्मी बता कर अंग्रेज़ों से भी ज़्यादा ख़तरनाक और आक्रामक सिद्ध करने की बाक़ायदा जंग छेड़ दी गयी।

26_sanjay_sharma:Layout 1 5/7/2014 3:04 PM Page 361

हिंदुओं का आह्वान किया गया कि वे मुसलमान चूड़ी विक्रेताओं (मनिहारों) तथा सब्ज़ीवालों का बहिष्कार करें (पृ. 207-08)। साथ ही ग़ाज़ी मियाँ तथा अन्य लोकप्रिय पीरों की आराधना करने के ख़तरे और नुक़सान गिनाये गये। लेकिन हिंदू समुदाय के एकजुट करने के रास्ते में जाति एक रुकावट थी। ऊँची जाति के प्रचारवादियों को इसके लिए मज़बूत निम्न जातियों और हिंदू विधवाओं के प्रति सुधारवादी रणनीति अपनानी पड़ी ताकि वे मुसलमानों से दूर हिंदू दायरे के भीतर रहें। पहले विधवा विवाह के विपक्ष में दिये गये तर्कों में हिंदू नारी को सादगी और त्याग के आभूषण पहनाये गये, लेकिन बीसवीं सदी में विधवा विवाह के पक्ष में नये तर्क गढ़े गये। मुसलमानों की आबादी में बेतहाशा वृद्धि के के दु:स्वप्नों में डूबे हुए लोगों ने अब यह कहना शुरू कर दिया कि विधवा हिंदू औरतों की शादी इसलिए कर देनी चाहिए ताकि वे मुसलमानों के हाथों में न पड़ सकें। पुस्तक में विधवा विवाह के प्रति इस बदले हुए रवैये की कुशाग्र व्याख्या है। यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि हिंदू विधवा विवाह के विरोधियों और समर्थकों की पूर्व-धारणा में अतृप्त नारी थी— क्योंकि दोनों बुनियादी तौर पर मानते थे कि एक औरत के अंदर कामवासना कूट-कूट कर भरी रहती है। एक आर्यसमाजी पुस्तक के अनुसार : 'स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा आठ गुणा अधिक कामवासना होती है। ऐसी अवस्था में यह आशा रखना कि ये बाल विधवाएँ आजन्म ब्रह्मचारिणी बनी रह कर अपना जीवन व्यतीत कर सकेंगी, मृगतृष्णा में जल की आशा करने के समान है। क्या तुम समाचार पत्रों में नित नयी दुर्घटनाएँ पढ़ कर भी नहीं लजाते' (पृ. 238)।

मुसलमानों की हिंदुओं से विपरीत छवि गढ़ने में धर्म-परिवर्तन, हिंदू महिलाओं के अपहरण और मुक्ति संबंधी विमर्शों ने आग में घी का काम किया। हिंदू निम्न जातियों को इन मुद्दों ने अधिक आकर्षित किया क्योंकि उनमें गोरक्षा और हिंदी संबंधी मसलों के प्रति अपेक्षाकृत कम आकर्षण था।

इस पुस्तक की सबसे बड़ी ख़ूबी यह है कि इसमें शुरू से आख़िर तक एक बुनियादी अवधारणा मौजूद रहती है और जुटाए गये सारे साक्ष्य उसे पुष्ट बनाते हैं। इसका फ़ायदा यह है कि इसे पढ़ने के पश्चात् एक स्पष्ट, व्यापक और बड़ी तस्वीर उभरती है। निस्संदेह औपनिवेशिक भारत में गठित होती यौनिकता और पुनर्रचित स्त्रीत्व का अक़्स वर्तमान के आइने में दिखता ही है। साम्प्रदायिकता और हाल के वर्षों में हिंदुत्ववादी ताक़तों का बढ़ता वर्चस्व उस तस्वीर में रंग भरता है। मगर दिक़्क़त तब होती है जब उसे हिंदुत्व के चौखटे में शुरू से जड़ दिया जाता है। यह अहसास इस पुस्तक को पढ़ते समय लगातार रहता है। पूरी किताब में मज़बूत होती हिंदू पहचान और हिंदुत्व की विचारधारा के बीच स्पष्ट रूप से सैद्धांतिक भेद नहीं किया गया है। पहले अध्याय में ही लेखिका ने कह दिया है कि उनका मक़सद हिंदू पुरुष प्रचारवादियों की 'असलियत, विडम्बना और आडम्बर' को उघाड़ना है (पृ. 18)। वे यह भी स्वीकार करती हैं कि हिंदू प्रचारकों के विमर्श का आधिपत्य कभी भी एकछत्र नहीं तथा और हिंदू पहचान क़ायम करने वाली विभिन्न कोशिशें भी आधी-अधूरी और मंज़िल से दूर थीं। हिंदू धर्म ग्रंथों, आयुर्वेद और ब्राह्मणवादी संस्कारों के समक्ष प्रश्न उठाने और पाखण्डी दोनों को चुनौती देने की परम्परा भी हिंदू समाज में मौजूद रही है। इस संदर्भ में 1971 में छपी हरिमोहन झा की बहुचर्चित व्यंग्यकृति *खट्टर काका* विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

दूसरे, हिंदुत्व तो एक राजनीतिक परिकल्पना है जिसका घोषित प्रयोजन हिंदू राष्ट्र की स्थापना है। पुस्तक इसमें निहित राजनीतिक तत्त्वों की जाँच-पड़ताल अपेक्षाकृत कम ज़ोर देते हुए उसके सांस्कृतिक-सामाजिक पक्षों पर अधिक बल देती है और उन पर यौनिकता, विशेषकर हिंदू स्त्री की यौनिकता, के प्रिज़्म से रोशनी डालती है। समस्या यह भी है कि तमाम हिंदूवादी प्रवृत्तियाँ उन्नीसवीं सदी से ही इस हिंदुत्व को और उद्देश्यपरक तरीक़े से अपने पूर्वनिर्धारित लक्ष्य की ओर बढ़ाती नज़र आती हैं। स्वयं लेखिका ने माना है कि हिंदू सामुदायिक पहचान के निर्माण की प्रक्रिया एकांगी न हो कर बहुरंगी, बिखरी और विरोधाभासी भी थी जिसके उभार के साथ-साथ उदारतावादी मूल्य भी पैदा

26_sanjay_sharma:Layout 1 5/7/2014 3:04 PM Page 362

हुए (पृ. 21)। भले ही एक पुस्तक में उनका समावेश सम्भव नहीं था, परंतु उनके ज़िक्र या संदर्भ के अभाव में हिंदुत्व एक मिसाइल की तरह नज़र आता है जो उन्नीसवीं सदी से ही बेलगाम अपने लक्ष्य की ओर बढ़ रहा है। हिंदुत्व की शक्तियों से उत्पन्न ख़तरों से गहरी चिंता का उत्पन्न होना समझ में आता है और लेखिका के सरोकारों से सहमति रखने के बावजूद उनकी प्रयोजनमूलक विश्लेषण पद्धति मुश्किलें पैदा करती हैं। भारतीय समाज में सेकुलर ताक़तों और राज्य के सेकुलरवाद की कमज़ोरियाँ और असफलताएँ हताश तो करती हैं मगर साथ ही आश्वस्त भी करती हैं कि यहाँ हिंदुत्व भी पूरी तरह कामयाब नहीं होगा। इस विचार से भी असहमति हो सकती है लेकिन वर्तमान के चश्मे से अतीत को देखने के प्रयास से निरंतरता और 'आंतरिक एकरूपता' नज़र आने की अवांछनीय समस्या पैदा हो सकती है।

अंत में कुछ और टिप्पणियाँ आवश्यक हैं जो आलोचनाएँ प्रतीत हो सकतीं हैं मगर वास्तव में वे इस अध्ययन को और समग्र बनाने की इच्छा से प्रेरित हैं। पुस्तक पुरुष-लिखित स्रोतों पर निर्भर है। स्त्रियों के जगत में पुरुषों के लैंगिक दृष्टिकोण से झाँका गया है। मगर महिलाओं के दिल-ओ-दिमाग़ में क्या चल रहा था उसकी कुछ झलक उनकी अपनी ज़ुबान में मिल जाती तो अच्छा होता। माना कि यह स्रोतों की सीमा है, मगर महिला-केंद्रित इतिहास-लेखन में उनकी यह बेज़ुबानी घोर अधूरेपन का अहसास कराती है। यह आलोचना नहीं, आग्रह है, उम्मीद है। पुस्तक में भाषा की त्रुटियाँ भी हैं— कुछ प्रूफ़रीडिंग की तो कुछ अंग्रेज़ी से लिए गये शब्दों या जुमलों के अटपटे हिंदी तर्जुमे की। मसलन मदर इमेज के लिए 'माँ की प्रतिमा' या 'मूर्ति' का इस्तेमाल; मेल माइग्रेशन के लिए 'पुरुष पलायन' या लेट नाइंटींथ सेंचुरी के लिए 'उन्नीसवीं सदी देर'। चित्र काफ़ी फीके हैं और पाठ से नुक़्ते नदारद हैं।

ऐसी कुछ समस्यायों और सीमाओं के बावजूद हिंदी में समाज-विज्ञान की दुनिया में चारु गुप्ता की इस पेशकश का गर्मजोशी से स्वागत होना चाहिए। यह पुस्तक सोचने पर मजबूर करती है, परेशान करती है और कुछ सार्थक करने के लिए भी प्रेरित करती है। और, यह अत्यंत पठनीय भी है

संदर्भ

अंशु मलहोत्रा (2002), *जेण्डर, कास्ट ऐंड रिलीजस आइडेंटिटीज़ : रिस्ट्रक्चरिंग क्लास इन कोलोनियल पंजाब,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

पार्थ चटर्जी (2002), 'राष्ट्र और उसकी महिलाएँ', शाहिद अमीन और ज्ञानेंद्र पाण्डेय (सम्पा.), *निम्नवर्गीय प्रसंग,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

फ्रांचेस्का ऑर्सीनी (2002), *द हिंदी पब्लिक स्फ़ेयर 1920-1940 : लैंग्वेज़ ऐंड लिटरेचर इन द एज ऑफ़ नैशनलिज़म,*

वीर भारत तलवार (2002), *रस्साकशी : उन्नीसवीं सदी का नवजागरण और पश्चिमोत्तर प्रांत,* सारांश प्रकाशन, नयी दिल्ली.

मनु गोस्वामी (2004), *प्रोड्यूसिंग इण्डिया : फ़्रॉम कोलोनियल इकॉनॉमी टू नैशनल स्पेस,* परमानेंट ब्लैक, नयी दिल्ली.

वसुधा डालमिया (1997), द *नैशनलाइज़ेशन ऑफ़ हिंदू ट्रेडिशंस : भारतेंदु हरिश्चंद्र ऐंड नाइंटींथ-सेंचुरी बनारस,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

शाहिद अमीन (2007), 'रिप्रज़ेंटिंग द मुसलमान : देन ऐंड नाउ, नाउ ऐंड देन', शैल मायाराम, एम.एस.एस. पाण्डियन और अजय स्कारिया (सम्पा.), *सबाल्टर्न स्टडीज़ xii : मुस्लिम्स, दलित्स ऐंड द फ़ेब्रिकेशन ऑफ़ हिस्ट्री,* परमानेंट ब्लैक, रानीखेत.

ज्ञानेंद्र पाण्डेय (1990), द *कंस्ट्रक्शन ऑफ़ कम्युनलिज़म इन कोलोनियल नॉर्थ इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

हरिमोहन झा (2014), *खट्टर काका,* राजकमल पेपरबैक्स, सातवीं आवृत्ति, नयी दिल्ली.